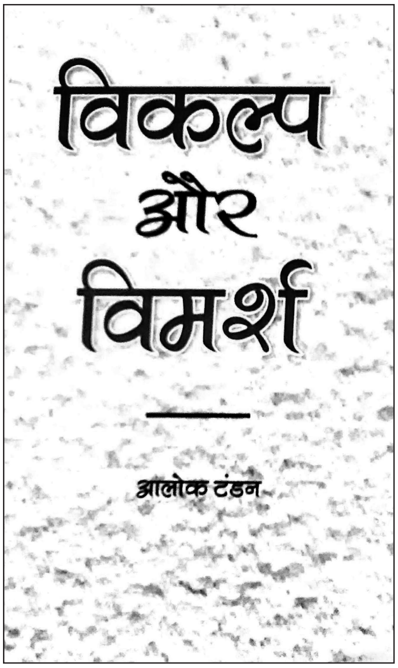


वैज्ञानिक दृष्टिकोण का दार्शनिक पुनर्लेखन

अविनाश झा

विकल्प और विमर्श
आलोक टंडन
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2006
पृष्ठ : 160, 250 रुपये

निबंध की विधा अभी मंदी के दौर से गुज़र रही है। ऐसे समय में बीस निबंधों की यह पुस्तक एक उत्सुकता जगाती है। यह पुस्तक किसी एक विषय पर केंद्रित नहीं है। वह मृत्यु और मित्रता जैसे विषयों से लेकर पिछले दशकों की बड़ी सामाजिक व राजनीतिक बहसों की थाह लेती है, तथा विशुद्ध दार्शनिक चिंतन और बृहत्तर सामाजिक सरोकारों के बीच आवाजाही करती है। शुरू में ही कह दिया जाए कि पुस्तक में संकलित लेख निबंध की विधा से पूरा न्याय करते हैं। हिंदी भाषा में दार्शनिक विश्लेषण की यह सहज प्रस्तुति उल्लेखनीय है।

इनमें से कई निबंध धर्म के बारे में हैं। लेखक धर्म को 'रिलीजन' के अनुवाद की तरह ही प्रयुक्त करते हैं और इसके लिए उनके पास एक दलील भी है। एक लेख धर्म और नैतिकता के अंतर्संबंध पर है जिसमें नैतिकता एक सार्वभौम मानव (तथा मानवीय) तत्त्व के रूप में उभर कर आती है। यहाँ धर्म एक ऐसे सामाजिक यथार्थ की तरह सामने आता है, जिसकी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मनुष्य की स्वतंत्रता का विपक्ष बन जाती हैं। इन सभी लेखों में धर्म यानी 'रिलीजन' को मुख्यत: असमान व असमर्थ समाज से जुड़ी वास्तविकताओं के संदर्भ में ही देखा गया है। लेखक का आधुनिक, सेकुलर और प्रगतिशील दृष्टिकोण वही है जिसका आज़ादी के बाद के भारत में वर्चस्व रहा और जिसे नेहरू जैसी हस्तियों के साथ जोड़ कर देखा गया। ग़ौरतलब है कि यह दृष्टिकोण सत्तर के दशक में कुछ अस्थिर हुआ। उत्तर-औपनिवेशिक दुनिया की जटिलताओं और चुनौतियों से उसकी

जद्दोजहद अभी तक जारी है। हमें लगता है कि अपनी प्रासंगिकता क़ायम रखने के लिए इस दृष्टिकोण को नये तर्क गढ़ने पड़ेंगे। संग्रह के धर्म-विषयक लेखों में कोई नयी दलील या वैचारिक पेशबंदी तो नहीं दिखाई पड़ती, लेकिन उनमें प्रगतिशील वैज्ञानिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति एक सहज दार्शनिक अंदाज़ में ज़रूर प्रकट होती है। हाँ, यह थोड़ा आश्चर्यजनक है कि भारत में सेकुलरिज़म पर केंद्रित महा-विमर्श का यहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता।

ऐसा नहीं है कि लेखक ने सातवें दशक के बाद उभरी नयी सामाजिक समस्याओं और बहसों को सम्बोधित न किया हो, पर उनका दृष्टिकोण अपने मूल बिंदु को छोड़ता प्रतीत नहीं होता। 'भारतीयता की तलाश' जैसे एक लेख में आलोक टंडन कहते हैं कि '... धर्म के पक्षधर भारतीय संस्कृति में धर्म की केंद्रीय भूमिका और उसके पाश्चात्य प्रत्यय 'रिलीजन' से भिन्नता का ढोल पीटने लगते हैं। उनके लिए धर्म एक उदात्त आध्यात्मिक परम्परा का पोषक है। वे मानते हैं कि 'सभी धर्मों में एक उदारतावादी परम्परा रही है जिसमें मतभेद की कोई गुंजाइश नहीं है।' (पृ. 83) पर 'आज महत्त्व इस बात का नहीं है कि धर्म अपने मूल स्वरूप में क्या था बल्कि इसका है कि वह क्या कर रहा है।' लेखक इस प्रश्न पर विचार नहीं करते कि धर्म के दोनों पहलू— एक उदारतावादी और उदात्त और दूसरा कट्टरतावादी व आक्रामक— किस तरह एक साथ रहते हैं और दोनों ही 'आज क्या कर रहे हैं।' अंतत: लेखक का यही कहना है कि 'यह सुनिश्चित करना होगा कैसे धर्म को व्यक्तिगत जीवन तक सीमित किया जाए।'

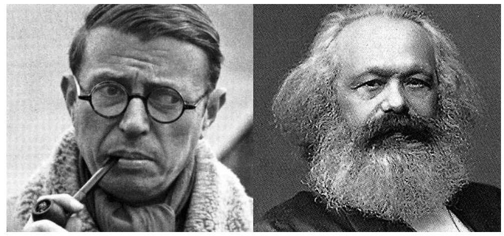
आलोक धर्म-विषयक दार्शनिक बहसों में भी प्रवेश करते हैं। अपने एक छोटे से लेख में उन्होंने मार्क्स के धर्म-संबंधी चिंतन पर टिप्पणी की है। उनके अनुसार मार्क्स का धर्म-चिंतन उन्नीसवीं सदी के नृतत्वशास्त्रीय ज्ञान की सीमाओं में बँधा है। धर्म की नकारात्मक सामाजिक भूमिका समझने के लिए यह अन्वीक्षण एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ प्रदान करता है। मार्क्स की धर्म संबंधी व्याख्या पर लेखक सवाल उठाते हैं कि धर्म अगर विशेष आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों की उपज है तो फिर एक-सी परिस्थितियों में विभिन्न धर्मों की उपस्थिति कैसे समझी जाए? (पृ. 26) वे एक दूसरा सवाल यह भी उठाते हैं कि यदि ईश्वर की धारणा शोषक वर्गों के हित-साधन के लिए है तो फिर स्वयं बूर्ज्वा वर्ग भी ईश्वर में क्यों विश्वास रखता है? अन्य लेखों में धर्म और हिंसा के अंतर्संबंध पर विचार किया गया है। एक अन्य लम्बा लेख 'हिंसा से परे : कृष्णमूर्ति और गाँधी' हिंसा के स्रोतों और उनसे मुक्ति की सम्भावना पर गम्भीर विमर्श प्रस्तुत करता है।

पुस्तक के अंतिम निबंध में आलोक फिर धर्म की विवेचना की ओर लौटते हैं। यहाँ पर संदर्भ है चार्वाक का दर्शन और मुख्य सवाल है कि क्या चार्वाक ने धर्म को एक पुरुषार्थ के रूप में मान्यता नहीं दी और अगर ऐसा है तो क्या चार्वाक-दर्शन नैतिकता को भी नहीं मानता। इस लेख में 'धर्म' का अर्थ रिलीजन से अलग एक पुरुषार्थ के रूप में लिया गया है। चार्वाक-दर्शन में अर्थ और काम को ही पुरुषार्थ माना गया है, धर्म और मोक्ष को नहीं। लेखक की दलील के मुताबिक़ इसका मतलब यह नहीं है कि उन्होंने नैतिकता को मान्यता नहीं दी। लेखक के अनुसार : 'दण्ड नीति और वार्त्ता की विधाओं में, जिनका तात्पर्य राजनीति तथा कृषि, वाणिज्य और व्यापार आदि विषयों से था, को प्रमुखता देने वाले चार्वाक समाज में व्यवस्था और समुचित प्रशासन बनाए रखने की आवश्यकता को भली-भाँति समझते थे। अत: उन पर यह आरोप उचित नहीं जान पड़ता कि वे अनियमित और उच्छृंखल जीवन के पक्षपाती थे और अनैतिक उपायों द्वारा सुख-प्राप्ति का निर्देश देते थे।' (पृष्ठ-156) ग़ौर करें कि यहाँ लेखक नीति और धर्म को अलग नहीं कर रहे हैं और इसके पीछे कोई दलील भी प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। इसलिए पाठक के मन में यह जिज्ञासा उठती है कि चार्वाक दर्शन में धर्म और नीति के संबंध कैसे प्रतिपादित किये गये होंगे। परंतु लेखक इस विचार को अधूरा छोड़ देते हैं।

पुस्तक में पिछले दशकों में उभरी कुछ सामाजिक बहसों पर भी कई लेख हैं। 'मानव अधिकार

: सार्वभौमिक या संस्कृति सापेक्ष', 'स्वराज, भूमण्डलीकरण और सांस्कृतिक संकट', 'नारी मुक्ति और नारी सशक्तीकरण' इत्यादि विषयों पर संग्रहीत निबंधों में लेखक की विश्लेषणात्मक दृष्टि परिलक्षित होती है। वे पूर्व-पक्ष और अपने पक्ष के तर्कों को सिलसिलेवार ढंग से पेश करते हैं। बहस की जटिलताओं को इस तरह खोलना एक अच्छी युक्ति कही जाएगी। अब हम उन लेखों की तरफ़ मुड़ते हैं जिनका विषय या तो कोई दार्शनिक हस्ती है या फिर कोई दार्शनिक मुद्दा।

पुस्तक का पहला लेख मार्क्स और सार्त्र के तुलनात्मक मूल्यांकन को सम्बोधित है। यह लेखक की पहली पुस्तक का विषय भी रहा है। उनके अनुसार 'मार्क्स का प्रस्थान बिंदु इतिहास है और गंतव्य मनुष्य, जबकि सार्त्र का प्रस्थान बिंदु मनुष्य है, और गंतव्य इतिहास।' (पृ. 6) सार्त्र का अस्तित्ववादी रूप तो हिंदी की दुनिया में भी चर्चित रहा है, पर उनकी बाद की कृतियों पर विशेष विचार नहीं हुआ। इस लेख में सार्त्र के 'क्रिटीक ऑफ़ डायलेक्टिकल रीज़न' को भी बहस में लाया गया है। सार्त्र वर्ग-संघर्ष को इतिहास की चालक शक्ति न मानते हुए, अभाव को केंद्र में लाते हैं। उनके अनुसार अभाव-बोध के कारण ही प्रतियोगिता का जन्म होता है, फिर शोषण और संघर्ष अस्तित्व में आते हैं। लेखक ने इन दोनों विचारकों की सीमाओं पर भी अपना मंतव्य दिया है।



मार्क्स और सार्त्र के विचारों का टकराव बीसवीं सदी के उत्तरार्ध की एक महत्त्वपूर्ण बहस का निमित्त रहा है और यह कहना निश्चित तौर पर ग़लत होगा कि इस बहस का समय गुज़र गया है। मार्क्स तो पूरी तरह से कभी गये ही नहीं और उसकी सार्त्र के दार्शनिक पुनर्मूल्यांकन के संकेत भी फिर दिखाई देने लगे हैं। यह ज़रूर है कि बहस के प्रतिमान और शर्तें बदल गयी हैं। इस बदलाव की शिनाख़्त हमें एक लम्बे लेख 'उत्तर-आधुनिकतावाद : आधुनिकता का अंत या पुनर्लेखन' में दिखाई देती है।

मार्क्स और सार्त्र के विचारों का टकराव बीसवीं सदी के उत्तरार्ध की एक महत्त्वपूर्ण बहस का निमित्त रहा है और यह कहना निश्चित तौर पर ग़लत होगा कि इस बहस का समय गुज़र गया है। मार्क्स तो पूरी तरह से कभी गये ही नहीं और सार्त्र के दार्शनिक पुनर्मूल्यांकन के संकेत भी फिर दिखाई देने लगे हैं। यह ज़रूर है कि बहस के प्रतिमान और उसकी शर्तें बदल गयी हैं। इस बदलाव की शिनाख़्त हमें एक लम्बे लेख 'उत्तर-आधुनिकतावाद : आधुनिकता का अंत या पुनर्लेखन' में दिखाई देती है। इस लेख में आधुनिकता की सीमाओं और आक्रामकता से जुड़े विमर्शों से एक संवाद स्थापित किया गया है। लेखक का मानना है कि आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता के बीच आत्यंतिक भेद करना उचित नहीं है, क्योंकि उत्तर-आधुनिकता 'चंचल यथार्थ को समझने, पकड़ने और उस पर सार्थक प्रतिक्रिया कर सकने के लिए आधुनिकता के पुराने औज़ारों को हाथ नहीं लगाना चाहती, लेकिन उन्हें फेंक देने से भी काम चलने वाला नहीं है। मानव-मुक्ति के आधुनिकतावादी एजेण्डे के बिना उत्तर-आधुनिकता हमें उस शून्यवाद से नहीं बचा सकती जिसे नीत्शे और हाइडेगर ने मनुष्य की नियति कहा है।' (पृ.143)

यह लेख एक गहरे और सार्थक संवाद की ओर संकेत करता है। निबंधों के इस संग्रह की सुगठित दार्शनिक अभिव्यक्ति, बौद्धिक मंथन तथा विचारों के विस्तृत क्षेत्र को देखते हुए यह उम्मीद की जानी चाहिए कि लेखक अपनी अगली पुस्तक में इस संवाद को और व्यापक व समृद्ध तल पर ले जाएँगे।